हिंदू-ध्रुवीकरण या अधिनायकवादी लोकलुभावनवाद?

रंजन पांडेय

हालिया लोकसभा चुनाव में भाजपा नीत राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) ने 542 में से 353 सीटें जीत कर प्रचण्ड बहुमत हासिल किया है। नरेंद्र मोदी दुबारा बहुमत के साथ सत्ता में आने वाले देश के पहले ग़ैर-कांग्रेसी प्रधानमंत्री बन गये हैं। जहाँ भाजपा ने 303 सीटें जीत कर 37.4% मत पाने में सफलता पाई, वहीं कई राज्यों में इस बार उसका मत प्रतिशत 50 से भी ज़्यादा है (हिमाचल, हरियाणा, गुजरात, राजस्थान में तो 60 प्रतिशत से भी ज़्यादा)। अधिकतर चुनाव पूर्व आकलन जहाँ इस बारे में एकमत थे कि भाजपा सबसे बड़ी पार्टी बनेगी और राजग को स्पष्ट बहुमत मिलेगा, वहीं इतने बड़े जनादेश की उम्मीद ख़ुद भाजपा के कई नेताओं को नहीं थी। राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में पुराना प्रदर्शन दोहराना इस बार कठिन था, क्योंकि वहाँ हाल ही में कांग्रेस की सरकारें बनी थीं। लेकिन भाजपा ने जहाँ राजस्थान-छत्तीसगढ़ में पुराना प्रदर्शन दोहराया (छत्तीसगढ़ में भाजपा इस बार एक ही सीट कम जीती), वहीं मध्य प्रदेश में पिछली बार की तुलना में एक सीट ज़्यादा जीती।

बंगाल में 42 में से 18 सीटें जीतने के अलावा भाजपा ने सबसे बड़ा उलटफेर बिहार में किया, जहाँ पाँच पार्टियों के महागठबंधन के बावजूद राजग ने 40 में से 31 सीट जीतने के 2014 के प्रदर्शन

के मुक़ाबले इस बार 39 सीटें जीतीं। उत्तर भारत में धुआँधार प्रदर्शन के अलावा कर्नाटक में 28 में से 26, उत्तर-पूर्व में 25 में से 14, और ओडीशा में 21 में से 8 सीटें जीत कर भाजपा ने पूरे देश में मज़बूत आधार पाने में सफलता पाई और पहली बार उत्तर-मध्य-पश्चिम भारतीय पार्टी की छवि से आगे बढ़ कर एक अखिल भारतीय पार्टी की नयी छवि प्राप्त की।

हिंदू-ध्रुवीकरण सिद्धांत : पैरोकारों के तर्क और उनकी समस्याएँ

इस जनादेश के बारे में कुछ विशेषज्ञों का मत है कि यह चुनावी नतीजा हिंदू मतदाताओं के अभूतपूर्व ध्रुवीकरण का नतीजा है। ख़ुद भाजपा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कई नेता इसे हिंदू-ध्रुवीकरण का नतीजा मानते हैं और विपक्ष के कुछ विचारकों को भी यह स्पष्टीकरण सही लगता है। क्रिस्टॉफ़ जैफ्रेलो जैसे भारतीय राजनीति के जानकार समाज-वैज्ञानिक इस तर्क के सबसे मज़बूत पैरोकारों में से हैं। उन्होंने इस बात की भी आशंका व्यक्त की है कि भारत धीरे-धीरे एक थियोक्रेटिक स्टेट (धर्मतंत्रीय राज्य) बनने की दिशा में बढ़ रहा है, और मौजूदा हिंदू-ध्रुवीकरण उसी का संकेत है। दरअसल, हिंदू-ध्रुवीकरण आधारित व्याख्या की समस्या यह है कि यह कई राज्यों की पेचीदगियों को दरकिनार कर देती है। जाँच करने पर पता लगता है कि यह चुनावी परिणाम हिंदुओं का ध्रुवीकरण करने के बजाय हिंदू समाज को बाँट कर उसके एक हिस्से को दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा करके प्राप्त किया गया है।

उदाहरण के लिए हरियाणा में, जहाँ भाजपा ने दसों सीटें जीतीं, इस जीत का एक बड़ा कारण पार्टी द्वारा किया गया ग़ैर-जाट ध्रुवीकरण है। हरियाणा की जनसंख्या का लगभग 27% जाट हैं। चूँकि हरियाणा में मुसलमान सिर्फ़ सात प्रतिशत हैं और सिख लगभग चार प्रतिशत इसलिए अकेले हिंदू समाज में जाटों का हिस्सा एक तिहाई है। पहले के दौर में हरियाणा में सत्ता पक्ष की कांग्रेस भूपिंदर सिंह हुड्डा के नेतृत्व में और मुख्य विपक्षी पार्टी इंडियन नेशनल लोक दल ओम प्रकाश चौटाला के नेतृत्व में लड़ती थी। दोनों जाट समुदाय से आते हैं। राज्य में संसाधनों से लेकर प्रभुत्व के पदों तक पर जाटों का बड़ा दबदबा था जिससे अन्य जातियाँ थोड़ी असंतुष्ट भी रहा करती थीं।

भाजपा ने इसे चुनौती दी और 2014 विधानसभा चुनावों में जीत के बाद एक ग़ैर-जाट मनोहर लाल खट्टर को मुख्यमंत्री बनाया। खट्टर सरकार ने अपने कामकाज से जाटों के प्रभुत्व को तोड़ने की कोशिश तो की ही, बल्कि भाजपा ने राज्य में जाटों के आरक्षण आंदोलन और उसके बाद हुई हिंसा को आधार बना कर समाज की अन्य जातियों को जाटों के ख़िलाफ़ गोलबंद भी किया। इस चुनाव में जाट बहुल रोहतक सीट से ब्राह्मण उम्मीदवार उतार कर भाजपा ने इसका साफ़-साफ़ संकेत दिया और इस जाट-विरोधी ध्रुवीकरण को अमली जामा पहनाने की कोशिश में भाजपा सफल भी रही, क्योंकि हुड्डा परिवार की परम्परागत सीट मानी जाने वाली रोहतक से कांग्रेस के दीपेंदर हुड्डा दस हज़ार से कम मतों से चुनाव हार गये।

उत्तर प्रदेश में यही प्रयोग यादव और जाटवों के ख़िलाफ़ ध्रुवीकरण करके दोहराया गया। भाजपा और उसकी सहयोगी अपना दल ने यहाँ की 80 सीटों में से सिर्फ़ एक पर यादव प्रत्याशी को टिकट दिया। भाजपा के नेताओं द्वारा सपा-बसपा गठबंधन को यादवों-जाटवों के गठबंधन के रूप में चित्रित किया गया जिसके जीतने पर अन्य जातियों को मिलने वाले अवसर ख़त्म हो जाते। इसका असर भी हुआ, प्रदेश के 80 सांसदों में से इस बार सिर्फ़ तीन यादव जीत पाए। पिछली बार राजग की 73 सीटें जीतने के बावजूद पाँच यादव सांसद यहाँ से जीते थे। कुल मिला कर यह रणनीति 2017 के विधानसभा चुनावों में अपनाई गयी रणनीति का सफल दुहराव ही था। महागठबंधन ने जितने उत्साह और मुखरता से स्वयं को यादव-जाटव गठजोड़ के रूप में पेश किया, उतना ही भाजपा को बचे हुए और कहीं ज़्यादा बड़े हिंदू समाज को गोलबंद करने का मौक़ा मिला।

साथ ही साथ बिहार में भी राजग ने कुल मिलाकर सिर्फ़ पाँच यादव प्रत्याशी उतारे जबकि

महागठबंधन ने इसके दुगुने यादव प्रत्याशियों को टिकट दिया था। यहाँ तो राजद नीत महागठबंधन को सीधे-सीधे यादवों के जंगल-राज का प्रतीक बना दिया गया। जहाँ उप्र में यादव और जाटव कुल हिंदू जनसंख्या का चौथाई से अधिक हैं, वहीं बिहार में यादवों का प्रतिशत इससे थोड़ा ही कम है। ऐसे में सवाल उठता है कि हिंदू आबादी के ही तिहाई-चौथाई हिस्से को खलनायक बनाकर उसके ख़िलाफ़ अन्य जातियों की गोलबंदी करके हासिल होने वाले जनादेश को 'हिंदू-ध्रुवीकरण' कैसे कहा जा सकता है? इसके अलावा महाराष्ट्र में भी भाजपा द्वारा कुछ जगहों पर ग़ैर-मराठा ध्रुवीकरण करने के प्रयास किये गये। असम में नागरिकता संशोधन विधेयक पर एथ्निक असमिया वोटरों की नाराज़गी के प्रभाव को कम करने के लिहाज से चाय बागान के मज़दूरों (स्थानीय बोली में टी ट्राइब्स), अनुसूचित जनजातियों, बांग्लाभाषियों और हिंदीभाषियों की गोलबंदी करने की कोशिश की गयी। जहाँ अपने प्रयासों से भाजपा नागरिकता विधेयक के मुद्दे पर नाराज़ लोगों का वोट पाने में भी सफल रही, वहीं 'सोशल इंजीनियरिंग' द्वारा हिंदू समाज के ही एक हिस्से के विरोध को चुनावी राजनीति के लिहाज़ से निष्प्रभावी बनाने का प्रयास यहाँ भी दिखा।

गठबंधन के फ़ायदे और नुक़सान

भाजपा और राजग के इस प्रदर्शन में गठबंधनों की भी बड़ी भूमिका रही। चुनाव से महीनों पहले हुए सर्वेक्षणों ने भाजपा के जनाधार में घटाव के स्पष्ट संकेत दिये थे, और दलितों-आदिवासियों में उसकी घटती लोकप्रियता की ओर इशारा किया था। इस बिखराव को रोकने के लिए भाजपा ने इन समुदायों में पैठ रखने वाले दलों के साथ गठबंधन का रास्ता लिया। जिस भाजपा पर लम्बे समय से सहयोगी दल उपेक्षा के आरोप लग रहे थे उसी भाजपा ने न सिर्फ़ पुराने सहयोगियों की मान मनौव्वल की बल्कि ख़ुद ही कुछ सीटें कुर्बान करके उन्हें संतुष्ट किया।

इसका सबसे बड़ा उदाहरण बिहार रहा जहाँ भाजपा ने अति-पिछड़ों और दलित-महादलित वोटरों में पैठ रखने वाली जनता दल (एकीकृत) और लोक जनशक्ति पार्टी (लोजपा) को अपने साथ रखने के लिए अधिक सीटें देने की क़ीमत चुकाना भी मंजूर किया और अपनी जीती पाँच सीटें सहयोगी दलों को दे दीं। इसी तरह महाराष्ट्र में भी भाजपा ने सहयोगी शिव सेना को पिछली बार से ज़्यादा सीटें दीं। मार्च में ही भाजपा महासचिव भूपेंद्र यादव ने बयान दिया था की उनकी पार्टी नीत गठबंधन में उस समय तक 36 पार्टियाँ आ चुकी थीं। इन गठबंधनों का भाजपा को भरपूर फ़ायदा मिला। बिहार में जनता दल (एकीकृत) और लोजपा के चलते राजग प्रत्याशियों को न सिर्फ़ अति-पिछड़ों के साथ साथ दलित-महादलित तबक़ों के एकमुश्त वोट मिले, बल्कि 2015 विधानसभा चुनाव जैसे पिछड़ा-अगड़ा ध्रुवीकरण (जिसकी राजद ने ख़ूब कोशिशें कीं) से भी बचाव हुआ। जहाँ भाजपा ने अपनी लड़ी सभी 17 सीटें जीतीं वहीं लोजपा-जदयू ने बची 23 सीटों में से 22 पर जीत दर्ज की। महाराष्ट्र में शिवसेना ने 18 सीटें जीतीं। वहीं दूसरी ओर दक्षिण के राज्यों में जिताऊ सहयोगियों की कमी के चलते केरल-तमिलनाडु में भाजपा अपना खाता भी नहीं खोल पायी।

हालाँकि इस चुनाव में भाजपा ने साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण करने और उसका लाभ लेने की पूरी कोशिशें कीं, लेकिन कुछ जगहों पर उसने इस कार्यनीति में थोड़ी ढील भी दी। जैसे बिहार में मुस्लिम बहुल सीमांचल की सीटें ख़ुद न लड़कर जनता दल (एकीकृत) को दे दीं जिससे मुसलमान वोटरों को भी नीतीश कुमार के नाम पर रिझाया जा सके। लगभग 50 हज़ार मतों से नीतीश के प्रत्याशी का कटिहार सीट से जीतना, जहाँ मुस्लिम मतदाता 45% से अधिक हैं, दिखाता है कि मुसलमानों ने भी कम संख्या में कुछ जगहों पर ही सही, लेकिन राजग प्रत्याशियों, और कहीं-कहीं तो भाजपा को भी वोट दिया है।

योजनाओं का जादू : लाभार्थियों से वोटर तक

जहाँ 2014 चुनाव में भाजपा को लगभग 31% वोट मिले थे, वहीं इस बार मिले 37% वोट उसके पक्ष में 6% वोट का सकारात्मक रुझान दिखाते हैं। धुर विरोधी समझे जा सकने वाले तबक़ों से लेकर समाज के सभी वर्गों से इस हद तक वोट लाने के पीछे सशक्त-ईमानदार नेता की मोदी की छवि, पुलवामा हमले के ख़िलाफ़ बालाकोट में हुए हवाई हमले और उत्तम गठजोड़-प्रबंधन तो था ही, लेकिन कल्याणकारी योजनाओं और नीतिगत निर्णयों के असर को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

उज्ज्वला योजना इस सरकार की सबसे चर्चित योजना रही जिसने सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ सीधे-सीधे सात करोड़ परिवारों को लाभान्वित किया। सौभाग्य योजना के तहत ढाई करोड़ घरों तक बिजली पहुँचाई गयी। स्वच्छता अभियान के तहत बनने वाले शौचालयों ने, जिन्हें उप्र में इज्जत घर का नाम दिया गया सीधे-सीधे कई करोड़ परिवारों को लाभान्वित किया। इसके अलावा प्रधानमंत्री आवास योजना के तहत भी एक करोड़ से अधिक घर बनने का दावा भाजपा सरकार ने किया। स्वास्थ्य सुविधाओं के लिए 'आयुष्मान भारत', सबको बैंक खाते देने के लिए 'जनधन योजना' एवं ऐसी ही अन्य योजनाओं ने लाभार्थियों का एक बड़ा वर्ग तैयार किया (भाजपा के अपने आँकड़ों के अनुसार 22 करोड़ लोग) जिसकी राजनीतिक आस्था जाति-धर्म-समुदाय से ऊपर उठ कर उनको फ़ायदा पहुँचाने वाली सरकार और उसके मुखिया मोदी में थी।

> जेफ्रेलो ... ने इस बात की भी आशंका व्यक्त की है कि भारत धीरे-धीरे एक थियोक्रेटिक स्टेट (धर्मतंत्रीय राज्य) बनने की दिशा में बढ़ रहा है, और मौजूदा हिंदू-ध्रुवीकरण उसी का संकेत है। दरअसल, हिंदू-ध्रुवीकरण आधारित व्याख्या की समस्या यह है कि यह कई राज्यों की पेचीदगियों को दरकिनार कर देती है। जाँच करने पर पता लगता है कि यह चुनावी परिणाम हिंदुओं का ध्रुवीकरण करने के बजाय हिंदू समाज को बाँट कर उसके एक हिस्से को दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा करके प्राप्त किया गया है।

सीएसडीएस-लोकनीति के एक चुनाव-बाद अध्ययन से पता चलता है कि ये योजनाएँ वोटरों के एक बड़े हिस्से में लोकप्रिय थीं जिसमें शीर्ष पर उज्ज्वला और जन-धन योजनाएँ थीं। ऐसे में ये बिल्कुल सम्भव है कि इन योजनाओं से लाभ लेने वालों के एक बड़े हिस्से ने भाजपा को वोट दिया हो। यही बात भाजपा की सहयोगी पार्टी जनता दल (एकीकृत) पर भी लागू होती है, जिसकी कल्याणकारी योजनाओं ने ऐसा ही असर बिहार में भी किया। महादलितों के लिए विशेष योजनाओं, मुसलमानों में शिक्षा का स्तर बढ़ाने के लिए नियुक्त तालीमी मरकज, मदरसों को आर्थिक सहायता और जीविका जैसे स्वयं-सहायता समूहों को फंड देने वाली योजनाओं के माध्यम से नीतीश ने महिलाओं, दलितों के साथ-साथ मुसलमानों में भी अच्छी पैठ बनाई, जिसका फ़ायदा राजग को बिहार में हुआ।

नीतिगत निर्णयों ने भी इसमें अपनी भूमिका निभायी। उदाहरण के लिए शराबबंदी के कारण महिलाओं के एक बड़े हिस्से में नीतीश की लोकप्रियता बढ़ी। भाजपा का दावा है कि उसी तरह तीन तलाक जैसे निर्णयों के चलते मुस्लिम महिलाओं का एक तबक़ा उसकी तरफ़ आकर्षित हुआ है, यद्यपि इस दावे की अभी जाँच बाक़ी है। इस सबके साथ किसानों से संबंधित मुद्दों का पिछड़ना, और छोटे-सीमांत किसानों को छह हज़ार रुपये वार्षिक देने की घोषणाओं ने भी भाजपा को देहातों और किसानों के बीच अपने ख़िलाफ़ नाराज़गी को नरम करने में मदद की।

जीत के अन्य सिद्धांत और सिद्धांतकार

राजनीतिशास्त्री नीरा चंडोक मोदी की जीत को 'अथॉरिटेरियन पॉपुलिज़म' (अधिनायकवादी लोकलुभावनवाद) के नज़रिये से देखती हैं। मौजूदा दौर में इसका फैलाव सारी दुनिया में हो रहा है। उनके अनुसार अथॉरिटेरियन पॉपुलिज़म के बुनियादी लक्षण हैं— प्रजातांत्रिक तरीक़े से सत्ता-दख़ल, प्रक्रियाओं और संस्थानों के प्रति असंतोष, बहुसंख्यकवाद, पहले से जमे हुए अभिजन पर हमला, उथल-पुथल भरे समय में स्थायित्व और सुरक्षा का आश्वासन, जनता के साथ सीधे संवाद और पूर्ण पहचान। प्रधानमंत्री मोदी की नेतृत्व शैली में ये सभी पहलू साफ़ दिखाई देते हैं।

ख़ुद अभिजन का हिस्सा होने (वे तीन बार गुजरात के मुख्यमंत्री रह चुके हैं) के बावजूद अभिजन पर हमला और उन्हें देश की दुर्दशा के लिए ज़िम्मेदार ठहराना, बहुसंख्यकवादी हिंदुत्व राजनीति का पूरा समर्थन, बेरोज़गारी और आर्थिक मंदी के बीच अच्छे दिनों और बेहतरी के आश्वासन, जनता के साथ समाचार माध्यमों-रैलियों-कार्यक्रमों के ज़रिये सीधा संवाद और स्वयं को उनके बीच का आदमी बताना— ये सभी प्रधानमंत्री मोदी की कार्यशैली के अभिन्न अंग हैं। इसके ज़रिये उन्होंने ख़ुद को देश की जनता से एकाकार करने में सफलता पायी।

तुर्की की पत्रकार एचे तमिलकुरान ने अपनी किताब *हाउ टू लूज़ अ कंट्री* में तुर्की में राष्ट्रपति रेचेप एर्दोगान के नेतृत्व में अथॉरिटेरियन पॉपुलिज़म के उदय का गहरा अध्ययन किया है। वे कहती हैं कि अथॉरिटेरियन पॉपुलिज़म के प्रसार की यह प्रक्रिया कई चरणों से होकर गुज़रती है जिसमें बाद के दौर में जनता और नेता एकरूप हो जाते हैं। इसके बाद नेता के संदेश का सार, या दूसरे शब्दों में कहें तो उसका तत्त्व गौण हो जाता है। उसके अंदर निहित अंतर्विरोधों, समस्याओं पर जनता का ध्यान आकृष्ट करने से भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता क्योंकि जनता नेता से स्वयं का तादात्म्य स्थापित कर चुकी होती है। नतीजा निकलता है उसकी ग़लतियों से परे जा कर नेता की नीयत के सही होने के प्रति आश्वस्त हो जाना।

भारत के संदर्भ में देखें तो शायद यही कारण है कि वे सभी लोग जिन्होंने प्रधानमंत्री मोदी के बयानों और भाषणों की चीरफाड़ की, और उनकी बातों को आधार बनाकर मोदी का मज़ाक़ उड़ाया— निष्प्रभावी साबित हुए। बल्कि इस फ्रेम में देखें तो उन्होंने एक स्तर पर मोदी की मदद ही की, क्योंकि मोदी के व्यक्तित्व और कथ्य पर लगातार आक्रमण करके उन्होंने मोदी को लगातार ख़बरों और लोकप्रिय जनमानस के बीच हावी किये रखा। इससे जनता मोदी से इतर किसी और व्यक्ति/मुद्दे की

ओर ध्यान ही नहीं दे पाई और चुनाव बड़ी आसानी से मोदी बनाम अन्य में फँस कर रह गया।

लोकनीति के निर्देशक संजय कुमार के अनुसार वोटरों ने आर्थिक मोर्चे पर लचर प्रदर्शन, कई वादों के अधूरे रहने और बढ़ती बेरोज़गारी के बावजूद मोदी को वोट दिया क्योंकि उन्हें मोदी पर और उनकी नीयत पर विश्वास था। संजय इसे 'उम्मीद' एवं 'एक मौक़ा और' देने के नाम पर दिया जनादेश बताते हैं। समाज-विज्ञानी प्रताप भानु मेहता भी मोदी की जीत में इसी पहलू पर ज़्यादा जोर देते हैं कि देश की अधिसंख्य जनता आज ख़ुद को मोदी के साथ जोड़ कर देख रही है। इसके नतीजे के बतौर उसने भाजपा सरकार की पिछली सभी नाकामियों के बावजूद दोबारा वोट दिया क्योंकि उसे मोदी में अपने बीच का एक आदमी दिखा है जो 'कुछ' मोर्चों पर विफल रहने के बावजूद जनता के लिए 'साफ़ नीयत' और 'ईमानदारी' से काम कर रहा था। आज के समय में ऐसा विश्वास उसे किसी और पार्टी या नेता पर नहीं है।

2012 की अपनी किताब *फ़ॉलो द लीडर* में गेब्रियल लिंज़ ने इस बात की पड़ताल की थी कि क्या जन दबाव नेता को नीतियों के बारे रुख़ बदलने के लिए प्रेरित करता है, या फिर नेता जनता को अपनी नीतियों के पक्ष में खड़ा करता है? अमेरिका में हुए कुछ चुनावों पर किये फ़ील्डवर्क के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि अधिकांश मामलों में जनता नीतिगत सवालों पर नेतृत्व देने के बजाय नेता के अनुसरण को ज़्यादा तवज्जो देती है— जो कुछ मामलों में अंधे अनुसरण में भी तब्दील हो जाता है।

जनता ... 'विश्वास' क़ायम हो जाने के बाद उसके पीछे चल पड़ती है। अगर कुछ सवालों पर उसकी नीतिगत प्राथमिकताएँ उस नेता से अलग होती हैं तो भी वह उन्हीं नीतियों के साथ खड़े अन्य नेता के साथ जाने के बजाय अपनी प्राथमिकताएँ बदल कर पुराने नेता के साथ ही बनी रहना ज़्यादा पसंद करती है। ... मौजूदा चुनावों में मोदी पर 'विश्वास' क़ायम हो जाने के बाद जनता का उनकी नीतियों-निर्णयों (और विफलताओं) को दिया गया समर्थन, और जनादेश के दक्षिणोन्मुख रुझान को *फ़ॉलो द लीडर* के फ़र्मे से बेहतर तरीक़े से समझा जा सकता है।

लिंज़ के अनुसार जनता पहले कुछेक मानकों के आधार पर किसी नेता को समर्थन देने या न देने की बात तय करती है और एक बार यह तय हो जाने, 'विश्वास' क़ायम हो जाने के बाद उसके पीछे चल पड़ती है। अगर कुछ सवालों पर उसकी नीतिगत प्राथमिकताएँ उस नेता से अलग होती हैं तो भी वह उन्हीं नीतियों के साथ खड़े अन्य नेता के साथ जाने के बजाय अपनी प्राथमिकताएँ बदल कर पुराने नेता के साथ ही बने रहना ज़्यादा पसंद करती है। इसी के चलते लोकप्रिय नेता जनमत को अपने अनुकूल बना लेते हैं। यह सिद्धांत हमें कुछ हद तक ये समझने में मदद करता है कि कैसे अलग-अलग समयों पर लोकप्रिय नेताओं के अधीन देश-समाज अलग-अलग रुझानों की ओर मुड़ जाता है। मौजूदा चुनावों में मोदी पर 'विश्वास' क़ायम हो जाने के बाद जनता का उनकी नीतियों-निर्णयों (और विफलताओं) को दिया गया समर्थन, और जनादेश के दक्षिणोन्मुख रुझान को *फ़ॉलो द लीडर* के फ़र्मे से बेहतर तरीक़े से समझा जा सकता है।

अथॉरिटेरियन पॉपुलिज़्म के चलते निर्णायक नेतृत्व हासिल करने वाले नरेंद्र मोदी देश के प्रजातांत्रिक ढाँचे के लिए कितने सही साबित होंगे यह तो समय ही बताएगा। लेकिन समाजशास्त्री दीपंकर गुप्ता का 'नागरिक अभिजन' सिद्धांत इसके विरोध में जाता है। अपनी 2013 की किताब *रेवोलूशन फ्रॉम अबव : इंडियाज़ फ़्यूचर ऐंड द सिटीज़न इलीट* में गुप्ता किसी भी देश-समाज की तरक़्क़ी के लिए 'इलीट ऑफ़ कॉलिंग' यानी किसी बृहत् उद्देश्य को नि:स्वार्थ भाव से समर्पित नागरिक

अभिजन की ज़रूरत को रेखांकित करते हैं। यह नागरिक अभिजन चुनावी जीत–हार से परे जा कर अपने समाज को आगे बढ़ाने में योगदान दे सकता है।

ऐसे में, चुनावों में जीत हासिल करने के दबाव में काम करने वाली पार्टियाँ या सिर्फ़ चुनावी जीत के आधार पर अपने निर्णयों को सही ठहराने वाले नेता गुप्ता के हिसाब से प्रजातंत्र को आगे बढ़ाने या दिशा देने में विफल हो जाते हैं। चूँकि आज के दौर में भाजपा अपनी नीतियों को ख़ुद मिल रही चुनावी जीतों के माध्यम से ही वैधता देने की कोशिश कर रही है और चूँकि इस जीत को हासिल करने के लिए वह अत्यधिक ख़र्च और संवैधानिक–नैतिक मर्यादाओं के उल्लंघन जैसे तरीक़े भी अपना रही है, इसलिए गुप्ता के नागरिक अभिजन इस पूरी परिघटना के प्रति आलोचना और विरोध का ही रुख़ रख सकते हैं।

मोदी के एकल नेतृत्व में संस्थाओं के ध्वंस, चुनावी सफलता के लिए कुछ भी करने की प्रवृत्ति और व्यक्ति केंद्रित कामकाज के ख़िलाफ़ क्या कोई नागरिक अभिजन भारत में किसी विपक्षी विचार या पार्टी को आगे बढ़ाएगा? यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इसकी सम्भावनाओं से पूरी तरह इंकार भी नहीं किया जा सकता। इस जीत से उत्साहित राम माधव जैसे संघी नेताओं ने तो 2047 तक भाजपा शासन जारी रहने की भविष्यवाणियाँ शुरू कर दी हैं। देखना ये है कि निर्णायक बहुमत वाली 'मोदी 2.0' की सरकार नागरिक अभिजन नीत किसी बड़े बदलाव या विपक्षी उभार की ज़मीन तैयार करेगी, या उसके अधीन अथॉरिटेरियन पॉपुलिज़म की प्रक्रिया देश में अभी और जड़ पकड़ेगी?